

वैदिक साहित्य में यज्ञ



डॉ० मनोज कुमार अग्रहरि

प्रवक्ता

जय नारायण चमेला देवी महाविद्यालय,
करछना, इलाहाबाद

वैदिक आर्यों की एक धर्म प्रधान परम्परा थी। उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ़ विश्वास था। समाज में धर्म उतना ही प्राचीन है, जितना मानव का सृजन। मानव विचारणा शक्ति से सम्पन्न उत्पन्न हुआ है। यह विचारणा शक्ति बौद्धिक चेतना व ज्ञान ही है। इसी विचारणा शक्ति के साथ धर्म भी उत्पन्न हुआ। वैदिक कालीन धर्म का जन्म प्रकृति की महाशक्तियों के संचालक नियमों को दैनन्दिन व्यवहार में प्रयुक्त करने के साथ-साथ धर्म का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इसीलिये ऋग्वेद में 'धर्म' शब्द का अर्थ 'जगन्निर्वाहक नियमों का समूह' है

“यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्”।^प

मानव जीवन के सन्दर्भ में अन्य सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि धर्म वह मूलभूत सिद्धान्त है, जिस पर मानव समाज आधृत रहता है। व्यवहार जगत् में धर्म व्यक्ति (जीवात्मा) का स्वेच्छया अङ्गीकृत एक मार्ग है, जीवन पद्धति है।^{पप} प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म प्रिय होता है तथा जीवन का वह अविभाज्य अङ्ग बन जाता है। इसीलिये यह एक सर्वमान्य नियम है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मणों में धर्म को सामान्यतया वरुण से सम्बद्ध प्रदर्शित किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋत् (जगत् विषयक शाश्वत नियम) के व्यवस्थापक वरुण है, इसलिए देवता 'वरुण' को 'धर्मपति' विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है— “वरुण धर्मणां पते”।^{पपप} तैत्तिरीय ब्राह्मण में धर्म के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि सविता, इन्द्र तथा मित्र को सत्य कहा गया है जबकि वरुण को 'सत्यानृत' कहा गया है— “सत्यमेता देवताः (सविता इन्द्रः मित्रः)।सत्यानृते वरुणः।^{पअ} चूँकि वरुण धर्म का प्रतीक है; इसलिए धर्म भी सत्यानृत है। तीन सत्यदेवों के प्रशस्त मार्ग ब्राह्मणों में निर्धारित किये गये हैं। इस निर्धारण में किसी अन्य विकल्प की गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी है। धर्म अथवा वरुण को ठोस व्यवहार की भूमि पर खड़ा किया गया है। धर्म को अंगुल्या निर्देश द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि 'यह धर्म है' अथवा 'यह धर्म नहीं है'।^अ धर्म एक सापेक्ष शब्द है तथा मूलतः एक व्यक्ति विशेष की रुचि एवं स्वभाव से सम्बद्ध होता है। एक व्यक्ति का धर्म दूसरे व्यक्ति के धर्म से नितान्त भिन्न हो सकता है। समानधर्मा व्यक्तियों के वर्ग या समूह के आदर्श कर्म ही परिस्थिति-विशेष में जन सामान्य के लिए 'मानक' बन जाते हैं। यही मानक उस वर्ग या समूह विशेष के लिए धर्म बन जाता है।

धर्म प्रत्येक संस्कृति का अङ्ग है। विश्व के किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं। प्रथम तत्त्व चिंतन तथा द्वितीय कर्मकाण्ड, धर्म के ये दोनों पहलू समरूपेण महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्राह्मण साहित्य में प्रतिष्ठापित धर्म यज्ञ-परक धर्म है। यज्ञ उस नियामक शक्ति, जिसे आर्यों ने 'ऋत्' कहा है, का रूपान्तर मात्र है। यह वैदिक जीवन एवं वैदिक साहित्य का अविभाज्य अङ्ग है। वैदिक ऋषियों की

सम्पूर्ण जीवन—चर्या यज्ञकर्म से अनुप्राणित थी। इसीलिए यज्ञमय जीवन की अपनी विशिष्ट संस्कृति रही है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ पूजा अथवा किसी देवता को उपहार (भेंट) चढ़ाना है।

प्रो० आर०डी० करमरकर के अनुसार 'यज्ञ' शब्द दो धातुओं से बना है— 'या' और 'यज्'। जहाँ 'या' का अर्थ, 'जाना' एवं 'मिलना उत्पन्न करना' हैं तथा 'धातु पाठ में' 'यज्' का अर्थ, 'देव पूजन करना', 'संगतिकरण—परस्पर मिलना', तथा 'दान' हैं— "यज् देवपूजासंगतिकरण दानेषु"। यह अपवाद रहित है कि 'यज्' धातु और 'या' धातु से बना शब्द पूजा—अर्चना के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतएव प्रो० करमरकर द्वारा 'यज्' धातु का अर्थ बहुत परोक्ष एवं खींचतान कर निकाला हुआ लगता है। डा० बुध प्रकाश के मतानुसार एक सामाजिक वैज्ञानिक की दृष्टि से 'यज्ञ' का अर्थ 'आम बिरादरी का भोज' है; जिसे 'संगतिकरण' भी कहते हैं। 'यज्ञ' शब्द के अर्थ में देवता के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकाशन भिन्न—भिन्न ढंग से सम्मिलित मिलता है। इसी आधार पर शास्त्रों का अध्ययन चिन्तन अथवा स्वाध्याय भी 'यज्ञ' कहलाता है। सामान्यतया अग्नी को दी गई भेंट अथवा देवता को उद्देश्य कर अग्नि के माध्यम से किया गया दान यज्ञ कहलाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भक्त का श्रद्धाभाव 'यज्ञ' या 'याग' कहलाता है। उदाहरणार्थ, जैसे ही भक्त स्वयं अथवा किसी पदार्थ को देवता के निमित्त दान (भेंट) में देता है, उसी क्षण वह यज्ञ सम्पादित कर लेता है कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ सदा किसी बहुमूल्य द्रव्य (वस्तु) का त्याग (दान) है। जिस वस्तु का त्याग किया जाय, उसे 'हविष्' कहते हैं। देवता को उद्देश्य मानकर द्रव्य त्याग 'याग' या 'होम' कहलाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के उद्भव एवं प्रयोजन पर विशद विवेचन मिलता है। तै०ब्रा० में उल्लेख मिलता है कि देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित करने के बाद स्वर्ग में देवतागण में भुखमरी फैल गयी। उन्होंने पृथ्वी मण्डल से आहार ग्रहण कर जीने का निर्णय लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने सप्त होतृ यज्ञ का विधान बनाया एवं अयास्य अङ्गिरस को यज्ञ सम्पादन हेतु भेजा। इस प्रकार पृथ्वी—मण्डल पर यज्ञ का पदार्पण हुआ,— "ते (देवाः) अमुष्मिन् लोके व्यक्षुध्यन्। तेऽब्रुवन्। अमुतः प्रदानं वा उपजीविमिति। ते सप्तहोतारं यज्ञं विधायावास्यम्। आङ्गिरसं प्राहिण्वन्। एतेनामुत्र कल्पयेति। तस्या वा इयं क्लृप्तिः। यदिदं किञ्च।"^{अप} एक अन्य सन्दर्भ से विदित होता है कि देवतागण ने पृथु को यज्ञ प्रदान किया, "यो वै, सोमेन सूयते स देवसवः। य पशुना सूयते। स देवसवः। यः इष्टया सूयते। स मनुष्यसवः। एतं वै पृथये देवाः प्रायच्छन्।"^{अपप} तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही एक प्रसंग में यह भी मिलता है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम यज्ञ को देखा और उसे देवों के पास भेज दिया।^{अपपप}

(i) यज्ञ का प्रयोजन (उद्देश्य):—

वैदिक काल में मानव जीवन में यज्ञों का बहुत महत्त्व था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों के विषय में अति—अधिक वर्णन हुआ है। यह प्रकृति और परमेश्वर के प्रति अपनी कर्तव्यनिष्ठा की सच्ची अभिव्यक्ति है। यह सृष्टि के क्रम का भी एक सच्ची गाथा है। किन्तु इसका मूलभूत उद्देश्य धरती पर मानव—जीवन को सुखमय एवं कल्याणमय बनाना था। मानव—जीवन का सुख एवं कल्याण भौतिक सम्पत्ति के उचित वितरण एवं स्वामित्व पर निर्भर था। भौतिक सम्पदा मनुष्य के मात्र निजी ऐन्द्रिक सुख के लिए ही नहीं थी। उसका सम्पूर्ण मानव समाज में न्यायिक वितरण आवश्यक था। इस प्रयोजन की पूर्ति की दिशा में जीवन के दृश्य एवं परोक्ष सभी अङ्गों एवं क्षेत्रों में यज्ञ कर्म समतुल्यता लाने के निमित्त आरम्भ किया गया। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह मत है कि प्राचीन भारतीय वैदिक समाज में यज्ञ का प्रयोजन प्रकृति को मित्र बनाकर प्रसन्न रखना था,

क्योंकि मानव का समस्त भौतिक सुख प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से मैत्री होने पर ही सम्भव था। यह बड़ी ही व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आस्था थी, जो सदा हमारी प्राचीन संस्कृति की मूल में रही हैं।

अग्निहोत्र सम्पादित कर मनुष्य देवताओं के निमित्त अपनी आहुति देता है जिससे देवता मनुष्य पर प्रसन्न होते हैं, यह निश्चित है। यज्ञ करने से मनुष्य समस्त भौतिक शक्तियों एवं पदार्थों को विधिवत् समझने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। यज्ञाचरण से ही उसे उस मानसिक चिंतन हेतु पात्रता एवं सामर्थ्य प्राप्त होता है; जिससे उसको प्राकृतिक शक्तियों का पारस्परिक ज्ञान मिलता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर ही मनुष्य परमसुख की स्थिति (स्वर्ग) प्राप्त कर सकता है। यज्ञ सम्पादन से मनुष्य को वाह्य भौतिक सुख, जैसे—पुत्र—पौत्र, पशु एवं सम्पत्ति आदि की प्राप्ति एवं उनकी अभिवृद्धि होती है, साथ ही आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक परम्परानुसार यही यज्ञों का फल है,— “सर्वाभ्यो वा एस देवताभ्यो जुहोति। योऽग्निहोत्रं जुहोति। यथा खलु वै धेनुं तीर्थं तर्पयति। एवग्निहोत्री यजमानंतर्पयति तृप्यति प्रजया पशुभिः। प्र सुवर्गलोकं जानाति। पश्यति पुत्रं। पश्यति पौत्रम् प्रजया पशुभिर्मिथुनैर्जायते।”^{पग}

(ii) यज्ञ के स्थल:—

ब्राह्मण ग्रन्थों में देवयजन के लिए यज्ञ—भूमि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार भूमि के ऊपरी भाग को खनन कार्य द्वारा हटा लेना चाहिए। ताकि थूक आदि से अपवित्र भू-भाग खनन द्वारा हट जाये। उस समय ‘उद्धन्यमानम्’ इस मन्त्र का जाप किया जाता है।^ग ऐसी मान्यता है कि खनन कार्य से भूमि को कुछ वेदना सहनी पड़ती है; अतः उसे शान्त करने के लिए शांति के प्रतीक जल से प्रयोग करते हुए “आपो वै शान्ताः” नामक मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।^{गप}

(iii) यज्ञ—भूमि का आयतन:—

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार गार्हपत्य द्वादश प्रक्रम का होना चाहिए। ऐसा इसलिए, क्योंकि संवत्सर में बारह माह होते हैं। गार्हपत्य से द्वादश प्रक्रम के समाप्त होने पर आहवनीय का आयतन बनाना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण का आहवनीय एकादश प्रक्रम, क्षत्रियों का द्वादश प्रक्रम और वैश्यों का चतुर्विंशति प्रक्रम होना चाहिए,— “ब्राह्मणस्याऽऽहवनीयायतनमेकादशसु राजन्यस्य द्वादशसु वैश्यस्य चतुर्विंशत्यामपरिमिते वा यावता वा चक्षुषा मन्यते— तस्मान्नातिदूरमाधेय इति सर्वेषामविशेषण श्रूयते”।^{गपप} प्रक्रम का तात्पर्य 2 पग या 3 पग होता है,— “प्रक्रमो द्विपदस्त्रिपदो वा”।^{गपपप} इसको विक्रम भी कहा जाता है,— “विक्रामः प्रक्रमः”।

(iv) यज्ञ का समय:—

यज्ञ का सफल उसके समय पर आश्रित होता है, जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। तै0 ब्रा0 के अनुसार रात्रि में गार्हपत्याग्नि का आधान करने से पशु और दिन में आहवनीयाग्नि का आधान करने से इन्द्रियों का तेज प्राप्त होता है। इसके साथ ही साध प्रातःकाल में आहवनीयाग्नि का आधान करने से यजमान के प्रजनन—सामर्थ्य की वृद्धि होती है, और अतीत व भविष्य का फल मिलता है।^{गपअ}

आहवनीयाग्नि आदि अग्नियों का क्रम उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गार्हपत्याग्नि का आधान पूर्व दिशा की ओर किया जाता है; क्योंकि ऐसा करने से श्री (लक्ष्मी) पूर्व दिशा की ओर चली जाती है अर्थात् यजमान धन—वैभव से युक्त हो जाता है। देवतागण भी गार्हपत्याग्नि का आधान पूर्व की ओर मुख करके करने से स्वर्गलोक को प्राप्त किया था। इसलिए आधान के समय यजमान को पूर्व दिशा की ओर मुख करके ही गार्हपत्याग्नि में अग्न्याधान करना चाहिए। इससे यजमान प्रजा, पशु और स्वामित्व भी प्राप्त करता है,— “गार्हपत्यस्य प्रजापशुस्वामित्वात्तस्य प्रथमाधानेन तत्प्राप्तिः”।^{गअ}

आहवनीयाग्नि का आधान पश्चिम की ओर मुख करके करना चाहिए। इससे यजमान को सुख-समृद्धि और यश की प्राप्ति होती है; किन्तु यदि आहवनीय अग्नि का आधान पूर्व की ओर मुख करके किया जाय, तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, लेकिन वह क्षणिक होता है। एक प्रसिद्धि है कि, किसी समय इड़ा नामक गो-रूप में कोई देवी थी। वह मनु की संबंधी थी। वह ईड़ा यज्ञ-तत्त्व के विषय में कुछ नहीं जानती थी। उसी समय असुरों ने अग्न्याधान शुरू किया। यह सुनकर ईड़ा उनके यज्ञीय कर्मकाण्ड को देखने चली गयी। तत्पश्चात् मनु के पास वापस आकर बोली कि असुरों ने पहले पूर्व दिशा की ओर अवस्थित होकर आहवनीय यज्ञ करते हैं, तत्पश्चात् पश्चिम दिशा में अवस्थित होकर गार्हपत्य यज्ञ करते हैं। उसके बाद दक्षिण दिशा में दक्षिणाग्नि यज्ञ करते हैं। ऐसा करने से कुछ समय तक वे धन-वैभव से युक्त रहते हैं; तत्पश्चात् विनाश को प्राप्त करते हैं। पश्चिम की ओर मुख करके अग्न्याधान करने से श्री भी चली जाती है; जिसके फलस्वरूप असुर पराभव को प्राप्त करते हैं।^{गअप}

जहाँ तक दक्षिणाग्नि का प्रश्न है; तो यह गार्हपत्य के दक्षिण दिशा में स्थित है। दक्षिणाग्नि तिरछा होता है, जिससे कि यह ऊपर की ओर नहीं जा सकता, बल्कि मर्त्यलोक में ही अवस्थित रहता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कुछ विशेष नक्षत्रों में ही अग्न्याधान करने को कहा गया है; जो इस प्रकार है :-

कृत्तिका नक्षत्र:- तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार जिस दिन कृत्तिका नक्षत्र का चन्द्रमा से संयोग होता है, उस दिन अग्न्याधान करना चाहिए। कृत्तिका नक्षत्र में अग्नी देवता का आधान कल्याणकारी होता है, इसलिए इस नक्षत्र को अग्नि देवता भी कहा जाता है- “कृत्तिकनक्षत्रमग्निर्देवता”।^{गअपप} इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने से यजमान ‘ब्रह्मवर्चस्व’ को प्राप्त करता है अर्थात् मन्त्रों का अधिष्ठाता बनता है। चूँकि यह नक्षत्र सभी नक्षत्रों में मुख्य होता है, इसलिए यजमान स्वयं सभी मनुष्यों में मुख्य बन जाता है-

“मुखं वा एतन्नक्षत्राणां। यत्कृत्तिकाः। यः कृत्तिकास्वग्निमाधत्ते। मुख्यं एवं भवति, इति।”^{गअपपप}

परन्तु कृत्तिका नक्षत्र ही अग्नि देवता है, इस बात को न जानने वाला जो इस नक्षत्र की निन्दा करता है और अनभिज्ञ होकर अग्न्याधान करता है; उस यजमान का घर अग्नि की ज्वाला से तहस-नहस हो जाता है।

रोहिणी नक्षत्र- तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार रोहिणी नक्षत्र कामनाओं की पूर्ति कराता है- “रुह्यन्ते प्राप्यन्त इति रोहाः कामास्ते च यस्यां रुह्यन्ते सा रोहिणी”।^{गपप} रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान कर्म करने से यजमान समृद्ध हो जाता है और दिन-प्रतिदिन वह लाभान्वित होता रहता है।

पुनर्वसू नक्षत्र:- पुनर्वसू नक्षत्र में खोये हुए धन को पुनः प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए इस नक्षत्र का नाम पुनर्वसू नक्षत्र है।^{गप} एक प्रसिद्धि है कि किसी समय देवतागण धनसम्पन्न होकर अग्न्याधान कर्म करते समय किञ्चित् श्रद्धारहित हो गये थे। इसलिए उनका यज्ञ विफल हो गया और वे मुक्तादि धन से रहित हो गये। तब वे देवतागण श्रद्धालु होकर पुनर्वसू नक्षत्र में (विशिष्ट तारका युगल जिस दिन चन्द्रमा के साथ संयुक्त हुये, उस दिन) सम्यक् रूप से देवताओं ने अग्न्याधान किया। इस प्रकार सम्यक् रूप से अग्न्याधान करने पर उन्हें पुनः वसु यानी धन प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार अन्य धनी भी अश्रद्धा में अग्न्याधान करके जब निर्धन हो गये, तो उन्होंने भी पुनर्वसू नक्षत्र में अग्न्याधान करके पुनः धन प्राप्त कर लिया। इस प्रकार पुनर्वसू नक्षत्र में अग्न्याधान करने से यजमान कल्याणकारी, श्रेष्ठ और कुलीन बन जाते हैं।

रोहिणी और पुनर्वसू नक्षत्र, दोनों ही समृद्धि के प्रतीक हैं। दोनों ही नक्षत्रों में यजमान द्वारा अग्न्याधान करने से यजमान धन-वैभव से युक्त हो जाता है। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दोनों नक्षत्र संभवतः एक ही हैं।

पूर्व फाल्गुनी नक्षत्रः— तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, जो यजमान प्रजा द्वारा धन-धान्यादि चाहते हैं, उन्हें पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। यह नक्षत्र अर्यमा देवता का प्रतीक है— “फाल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता”।^{गगप} अर्यमा (सूर्य) के विषय में वेदों में कहा गया है कि, जो शत्रुओं का दमन करता है और धन द्वारा लोगों को वश में करता है, वही आर्यमा देवता है।^{गगपप}

उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रः— तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, जो यजमान ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, इन छः गुणों को प्राप्त करना चाहता है, उसे उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। इस नक्षत्र का देवता ‘भग’^{गगपपप} होता है, जिसके द्वारा ऐश्वर्यादि छः गुणों की प्राप्ति होती है—

“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोवैव षष्णां भग इतीरणा।।”^{गगपअ} इति

फाल्गुनी मास में जब पूर्णिमा आती है, उस समय पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र युक्त रात्रि में पूर्ववर्ती वर्ष की समाप्ति होती है; इसलिए उस दिन अग्न्याधान करने से वर्ष का अन्त होने के कारण यजमान दरिद्र हो जाता है। परन्तु उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र का आरम्भ होने के कारण भावी वर्ष का प्रारम्भ होता है; इसलिए इस समय अग्न्याधान करने से यजमान अत्यधिक धनी हो जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों के विधान के साथ-साथ ऋतुओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार, ब्राह्मण को बसंत ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए; क्योंकि बसंत ऋतु सभी ऋतुओं में मुख्य होता है। इसलिए इस ऋतु में अग्न्याधान द्वारा ब्राह्मण भी मुख्य होता है और ब्रह्म वर्चस्व प्राप्त करता है। इसके साथ ही साथ यजमान में प्रजनन सामर्थ्य की बुद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे स्त्रियों की ऋतु विशेष में मनुष्य प्रजनन सामर्थ्य प्राप्त करता है।

इसी प्रकार क्षत्रियों को इन्द्रिय बल शक्ति प्राप्त करने के लिए ग्रीष्म ऋतु में और वैश्यों को धन-वैभव और पशु आदि की प्राप्ति के लिए शरद ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है कि—

“बसन्ता ब्राह्मणोऽग्नि। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः। स्व एवैनमृतावाधाय। ब्रह्मवर्चसी भवति। मुखं वा एतद् ऋतूनाम। यद्वमन्तः। यो वसन्ताऽग्निमाधत्ते। मुख्य एवं भवति। अथो योनिमन्तमेवैनं प्रजातमाधत्ते। ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। ग्रीष्मो वै राजन्यस्यर्तुः। स्व एवैनमृतावाधाय। इन्द्रियावी भवति। शरदि वैश्य आदधीत। शरद्वै वैश्यस्यर्तुः। एव एवेनमृतावाधाय। पशुमान्भवति, इति।”^{गगअ}

(v) यज्ञ की विधाएँः—

यज्ञ में मुख्य मृत्य होम होता है। जिस पर यज्ञों का वर्गीकरण निर्भर करता है। प्रमुख रूप से यज्ञ की तीन विधाएँ हैं, (1) इष्टि, (2) पशुबन्ध तथा (3) सौमिक। इष्टि में पुरोडाश की आहुति दी जाती है। पशुबन्ध में पशु तथा सौमिक में सोमरस की प्रमुख आहुतियाँ दी जाती हैं। इसमें सामान्यतः हविर्यज्ञ अथवा इष्टि एवं सोम-अध्वर में भेद किया जाता है— “चत्वारो ह्येते हविर्यज्ञस्यर्त्विजः। ब्रह्मा होताऽध्वर्युरग्नीत्। तमभिमृशेत्। इदं ब्राह्मणः। इदं होतुः। इदमध्वर्योः। इदमग्नीध इति। यथैवादस्त्योम्येध्वरे”।^{गगअप} तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञों को

देवसव एवं मनुष्यसव के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। सोम एवं पशुबन्ध यज्ञ देवसव की श्रेणी में तथा इष्टि यज्ञ को मनुष्यसव की श्रेणी में रखा गया है— “यो वै सोमेनं सूयते स देवसवः। यः पशुना सूयते स देवसवः। यः इष्ट्या सूयते स मनुष्यसवः। एवं वै पृथये देवाः प्रायच्छन्।”^{गगअपप}

ऐतरेय आरण्यक के अनुसार, यज्ञ पाँच प्रकार का होता है— अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम। गौतम धर्म सूत्र में यज्ञों को प्रदान किये जाने वाले हविषों के आधार पर समस्त यज्ञों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—

(1) **पाक-यज्ञ संस्था:**— इस संस्था के अन्तर्गत आग्रहायणी, शूलगव, अष्टका, पार्वण, श्राद्ध श्रावणी तथा आश्वयुजी यज्ञ आते हैं।

(2) **हविर्यज्ञ संस्था:**— इसके अन्तर्गत अग्न्याध्येय, अग्निहोत्री, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरुद्ध-पशुबन्ध तथा सौत्रामणि यज्ञ आते हैं।

(3) **सोम संस्था:**— अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टेम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम यज्ञ इसके अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त प्रथम वर्ग के यज्ञ गृह्य यज्ञों के अन्तर्गत हैं। गृह्य यज्ञ तथा श्रौतयज्ञ में मौलिक भेद यह है कि, गृह्य यज्ञ यजमान तथा उसकी पत्नी के बिना किसी ऋत्विज् के द्वारा गार्हपत्य अग्नि में सम्पादित किया जाता है, जबकि श्रौत-यज्ञ यजमान और उसकी पत्नी द्वारा ऋत्विजों की सहायता से गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिण अग्नि में सम्पादित किया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

^प ऋ0 1.164.50; त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्यः अतो धर्माणि धारयन्। ऋ0 1.22.18

^{पप} यदेकस्याधि धर्माणि। तस्यावयजनमसि। तै0ब्रा0 2.6.6.2

^{पपप} तै0ब्रा0 1.7.10.2-4, 3.11.4.1

^{पअ} तै0ब्रा0 1.7.10.1

^अ न धर्माधर्मो चरतः आवस्व इति। न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति। आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, 1.20.6, आ0प0 मंजरी, पृ0 2

^{अप} तै0ब्रा0 2.2.7.3-4

^{अपप} तै0ब्रा0 2.7.5.1

^{अपपप} ‘प्रजापतिरकामयत। दर्शपूर्णमासौ सृजेयेति। स एवं चतुर्होतारमपश्यत्। तं मनसाऽनुद्रुत्या हवनीयेऽजुहोत्। ततोवै स दर्शपूर्णमासावसृजततापस्मात्सृष्टावया क्रामताम्। तैः ग्रहेणागृहणात्।..... सौम्यमध्वरमसृजत।’ तै0ब्रा0 2.2.2.1-4; प्रजापतिः देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्। तै0ब्रा0 1.3.2.5

^{पग} तै0ब्रा0 2.1.8.3

ग तै०ब्रा० 1.1.3

गप तै०ब्रा० 1.1.3

गपप तै० ब्रा० 1.1.4.23

गपपप तै० ब्रा० 1.1.4.23

गअ अर्धोदिते सूर्य आह्वनीयभादधाति । एतस्मिन्चै लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत । प्रजा एव तद्यजमानः
सृजते । अथो श्रुतं चैव भविष्यच्चावरुद्धे, इति । तै० ब्रा० 1.1.4.25

गअ तै०ब्रा० 1.1.4.27

गअप इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत् । साऽशुणोत् । असुरा अग्निमादधत इति । तदगच्छत् । त
आह्वनीयमग्र आदधत । अथ गार्हपत्यम् । अथान्वाहार्यपचनम् । साऽब्रवीत् । प्रतीच्येषां श्रीरगात् । श्रद्धा
श्रुत्वा पराभविष्यन्तीति । यस्यैवमग्निराधीयते । प्रतीच्यस्य श्रीरेति । भद्रा भूत्वा पराभवति इति । तै०ब्रा० 1.1.
4.25

गअपप तै०ब्रा० 1.1.2.7

गअपपप तै०ब्रा० 1.1.2.7

गपग तै०ब्रा० 1.1.2.8

गग पुनरपि वसु लभ्यते ययोस्तौ पुनर्वसु । तै०ब्रा० 1.1.2.9

गगप तै०ब्रा० 1.1.2.9

गगपप अरीन्यमयति धनदानेन वशी करोतीत्यर्यमा धनस्य दाता । तै०ब्रा० 1.1.2.9

गगपपप फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता । तै०ब्रा० 1.1.2.10

गगपअ तै० ब्रा० 1.1.2.9

गगअ तै०ब्रा० 1.1.2.10

गगअप तै०ब्रा० 3.3.8.7-8

गगअपप तै०ब्रा० 2.7.5.1